

भयमुक्त माहौल: कुछ तार्किक आधार

दिलिप चुघ

हमारे कुछ बुजुर्ग लोग और अनुभवी शिक्षक अक्सर कुछ ऐसे पुराने जुमले और कहावतें सुनाते हैं जो कि बच्चे को शिक्षक के सुपुर्द कर दिए जाने के भाव को अभिव्यक्त करने के लिए और सीखने में दंड, भय की भूमिका के महत्व को उजागर करने के लिए कहे जाते थे। जैसे-“हाड़-हाड़ म्हारा और खाल-खाल थारी”, “भय बिन होए न प्रीति” आदि। इस तरह के जुमले आपको हर किसी क्षेत्र विशेष की भाषा का रंग-रूप ओढ़े मिल जाएंगे। यह बातें बताती हैं कि हमारे समाज में बच्चों को ताकत और सत्ता से नियंत्रित करने की परम्परा और उसकी स्वीकृति बड़े पैमाने पर और बहुत पहले से चली आ रही है। यही कारण है कि अहम नीतियां और कड़े कानून बनने के बाद आज भी स्कूलों और परिवारों में बहुत से बच्चों को शारीरिक और मानसिक प्रताड़ना से गुजरना पड़ता है। इसलिए बच्चों को भयमुक्त माहौल देने के विचार की पृष्ठभूमि में छिपे तार्किक आधारों को ठीक से समझना शिक्षकों और अभिभावकों दोनों के लिए ही जरूरी है। एक और बात ये कि जब भी भयमुक्त माहौल की बात की जाती है तो उसका एक निहितार्थ बच्चों को स्वच्छन्द छोड़ने से इस तरह लिया जाता है, “अब तो करने दो उन्हें जो करना है”, “अब तो हम बच्चों को कुछ कह ही नहीं सकते”। बात यही नहीं है कि “कुछ कह ही नहीं सकते”। सवाल यह है कि बच्चों को क्या कहें और क्यों कहें? सवाल यह है कि बच्चों को अपनी बात कहने के मौके क्यों ना मिलें?

कुछ पहले का लेखा-जोखा

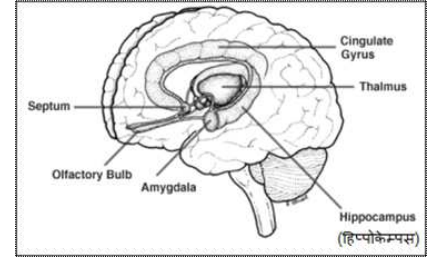
विद्यालयों में बच्चों के लिए भयमुक्त माहौल होने का विचार शिक्षा जगत में कोई नया नहीं है। भारत में आधिकारिक तौर पर 1986 और 1992 की शिक्षा नीतियों में साफतौर पर यह अनुशंसा की गई थी कि हमारे शिक्षा तंत्र की सीखने-सिखाने की प्रक्रियाओं में दंड, भय का कोई स्थान नहीं होना चाहिए। 1992 में ही संयुक्त राष्ट्र के बाल अधिकार अधिवेशन में जारी बाल अधिकारों पर सहमति जताते हुए सदस्य देशों (जिसमें भारत भी एक सदस्य है) ने अपने हस्ताक्षर कर दिए थे। इस अधिवेशन में जिन बाल अधिकारों पर सदस्य देशों ने अपने हस्ताक्षर किए हैं उनमें से एक बाल अधिकार यह भी है कि बच्चे के साथ किसी प्रकार का ऐसा अभद्र व्यवहार नहीं किया जा सकता है, जिससे बच्चे को शारीरिक या मानसिक रूप से नुकसान पहुंचे। देश की शिक्षा में अहम स्थान रखने वाली संस्था एनसीईआरटी द्वारा जारी अहम दस्तावेज एनसीएफ 2005 में विद्यालयों में भी दंड-भय के स्थान पर सहभागी प्रबंधन और आत्मानुशासन की पैरवी की गई है। जिसमें अपेक्षा है कि विद्यालय में शिक्षक और बच्चे मिलकर नियमों का निर्माण करें और सहभागी प्रबंधन की व्यवस्था लागू हो। फिर इसके बाद आए कानून निःशुल्क शिक्षा का अधिकार अधिनियम 2009 ने इस विचार को कानूनी रूप दे दिया। इस अधिनियम की धारा 17 में यह साफ तौर पर प्रावधान दिया गया है कि बच्चों को किसी भी प्रकार की शारीरिक और मानसिक प्रताड़ना नहीं दी जाएगी। यदि किसी शिक्षक को ऐसा करते हुए पाया गया तो उसके साथ विधान के अनुसार अनुशासनात्मक कार्यवाही की

जाएगी। कुछ शिक्षक तो इस कानून पर इस तरह से कटाक्ष भी करते हैं कि जैसे उनसे उनकी ताकत और सत्ता छीन ली गई हो। “साब अब तो हमारे हाथ में कुछ रहा ही नहीं” मुझे लगता है अक्सर नीतियों के पीछे रहे तार्किक आधार और शोध कार्य पूरी तरह से विमर्श में आ नहीं पाते हैं। इसका एक कारण यह भी देखा जा सकता है कि सेवा-कालीन प्रशिक्षण मुख्यतः आरम्भिक शिक्षा तक पढ़ाए जाने वाले विषय और उसकी विषयवस्तु को सीखने-सिखाने के तौर-तरीकों तक ही सिमटे नजर आते हैं। शैक्षिक परिप्रेक्ष्य से जुड़े इस तरह के मुद्दों को व्यापक फलक पर संबोधित आमतौर पर नहीं किया जाता है। यह लेख ऐसे ही कुछ तार्किक आधारों को सार्वजनिक विमर्श में लाने के मंतव्य से लिखा गया है।

तंत्रिका मनोवैज्ञानिक (Neuropsychological) आधार¹

बच्चों के लिए भयमुक्त माहौल के इस आधार को समझने के लिए हमें मस्तिष्क के एक भाग हिप्पोकैम्पस की कार्य प्रणाली और भूमिका को समझना पड़ेगा।

कमला वी. मुकुन्दा² इस बारे में विस्तार से बात करती हैं और बताती हैं कि हिप्पोकैम्पस हमारी प्रक्रियागत स्मृति से जुड़ा होता है। यह नई स्मृतियों का निर्माण करता है। कोई नया अनुभव पहले यहीं प्रसंस्कृत किया जाता है और फिर दीर्घकालीन स्मृतियों में संरक्षित हो जाता है।



हिप्पोकैम्पस का सम्बन्ध हमारे शरीर के कुछ जैव रसायनों से भी होता है। जब भी कोई इंसान डर-भय की परिस्थिति से गुजर रहा होता है तो शरीर की प्रतिरक्षा प्रणाली एड्रीनल हार्मोन रक्त नलिकाओं में प्रवाहित करती है। जिससे रक्त में आक्सीजन की मात्रा बढ़ जाती है और शरीर बचाव की परिस्थिति के लिए तैयार हो जाता है। इसके साथ ही रक्त में कोर्टिसोल नामक हार्मोन की मात्रा भी बढ़ जाती है। जो वसा और मांसपेशियों से उर्जा छोड़ता है। हिप्पोकैम्पस में सकेन्द्रित अभिग्राहक (Receptors) रक्त में बड़े कोर्टिसोल के स्तर को भांप लेते हैं और ये अभिग्राहक हिप्पोकैम्पस को परिस्थिति की सशक्त स्मृति बनाने को मजबूर कर देते हैं। मान लीजिए आप घूमने लिए कुछ मित्रों के साथ पहाड़ी पर चढ़ रहे हैं। चलते-चलते आप थोड़ा आगे निकल जाते हैं और आगे रस्ते में अचानक ही एक बिल दिखाई देता है जिसके बाहर कोबरा सांप फन फैलाए बैठा है। आप उसे देखते हैं और डर जाते हैं। वापस दौड़ पड़ते हैं और बाकी मित्रों को जाकर बताते हैं। इस अनुभव में सांप की छवि और वो जगह इस कदर आपके मन मस्तिष्क पर छप जाती है कि ताउम्र आपको याद रहती है। यह “होना” इसी जैविक क्षमता के फलस्वरूप होता है। यह एक नैसर्गिक प्रक्रिया है। आप अंदाजा लगा सकते हैं कि सुरक्षित जीवन जीने में मस्तिष्क की यह तंत्रिकीय इंजीनियरिंग हमारी कितनी मदद करती है।

इस तंत्रिकीय इंजीनियरिंग के कुछ दूसरे पहलू भी हैं। यह प्रतिरक्षा प्रणाली अचानक से पैदा हुई खतरनाक परिस्थिति से बचाव और भविष्य में संभावित खतरे से बचाव के लिए है। लेकिन आप कल्पना करें कि एक बच्चा जो कि आज होमवर्क ना किए जाने से कल मिलने वाली प्रताड़ना के बारे में सोच-सोचकर आज भयग्रस्त है और उस समय तक रहेगा जब तक कि उसका सामना उस शिक्षक से ना हो जाए। इस परिस्थिति में भी शरीर की प्रतिरक्षा प्रणाली वैसे ही व्यवहार करती है और लगातार कोर्टिसोल रक्त में प्रवाहित होता रहता है। ऐसा होने पर ये होता है-

- रक्त में बार-बार बढ़ने वाला कोर्टिसोल हिप्पोकैम्पस में मौजूद बेहद जरूरी तंत्रिकाओं को नष्ट कर देता है। इससे याद रखने और सीखने की क्षमता प्रभावित होती है।
- रक्त में कोर्टिसोल के स्तर का लगातार बढ़ते रहना उच्च रक्तचाप, हृदयरोग और अल्सर जैसी गंभीर बीमारियों को आमंत्रित करता है।

इस पूरी बात का एक मनोवैज्ञानिक पहलू यह है कि हम भय पैदा कर बच्चों को कक्षा में बैठा तो सकते हैं, कुछ समय के लिए उन्हें नियंत्रित भी कर सकते हैं लेकिन वास्तव में कुछ सिखा पाने का दावा नहीं कर सकते। आशंकित भय

की परिस्थितियां बच्चों को मानसिक रूप से नुकसान पहुंचा सकती हैं। दूसरा मनोवैज्ञानिक पहलू अनुभव आधारित साक्ष्य हैं जिनसे पता चलता है कि बहुत बार भयग्रस्त बच्चे अपनी कोई परेशानी अपने शिक्षक या अभिभावक से खुल कर कह नहीं पाते हैं और यदि बच्चों की अकादमिक, भावनात्मक, घरेलू समस्याओं तक शिक्षक की पहुंच नहीं होगी तो कैसे एक शिक्षक बच्चों के समग्र विकास को दिशा दे पाएगा। खासतौर पर अगर बच्चे अपनी अकादमिक समस्याएं स्वयं पहल कर शिक्षक को बता पाते हैं तो शिक्षक को अपनी योजना में रणनीतिक बदलाव करने तथा सीखने-सिखाने के और बेहतर या दूसरे कुछ तरीके खोजने में मदद मिल सकती है।

समाजशास्त्रीय आधार

परिवार, समाज और विद्यालय बच्चों के समाजीकरण के मुख्य घटक हैं। इन संस्थाओं से गुजरते हुए बच्चे जब ये देखते हैं और स्वयं भी अनुभव करते हैं कि कोई भी बच्चा जब गलती करता है तो उसे डांट पिला दी जाती है, यदि कुछ बड़ी गड़बड़ हुई तो डंडे और हाथ-पैरों से पीटा भी जाता है और उसमें अपेक्षा यह होती है कि बच्चे में सुधार होगा। हम सभी जानते हैं कि बच्चों में सामान्यीकरण करने की क्षमता होती है। सुधार की उम्मीद में बार-बार दोहराई जाने वाली इस प्रक्रिया-“गलती करने व दंड मिलने” के पैटर्न को पकड़कर बच्चे आसानी से यह समझ बनाने लगते हैं कि गलती का सुधार तो केवल मार-पीट कर या डराकर हो सकता है। विद्यालयों में काम के दौरान मेरे साथ ऐसे कई अनुभव रहे हैं जिसमें कि बच्चे शिक्षक से यह कहते हुए पाए जाते हैं कि “अमुक बच्चे को तो मुर्गा बना दो, लप्पड़ लगाओ तभी सुधरेगा” आदि। यहां तक कि किसी शिक्षक के द्वारा दिए गए दंड को जायज ठहराने वाले कथन भी सुनाई पड़ते हैं, “गुरु जी तो हमें सुधारने की लिए पीटते हैं।” दरअसल यह बातें बच्चे नहीं कह रहे होते हैं यह तो उनके मुंह से हमारा वयस्क समाज बोल रहा होता है। क्योंकि वयस्क समाज के ऐसे ही विचारों और व्यवहारों के आंचल तले उनका पालन-पोषण हो रहा होता है। इस पूरे अनुभव से बच्चे अपनी यह समझ बना रहे होते हैं कि गलती को सुधारने का एक बेहतर हल दंड दिया जाना है। दूसरा अगर थोड़ा भी हमारी सामाजिक व्यवस्था पर गौर करें तो साफतौर पर शारीरिक ताकत और सत्ता के उपयोग की एक खास व्यवस्था को हम देख सकते हैं। जब बच्चे पैदा होने से लेकर दो-तीन साल तक के होते हैं तो उनके गलती करने पर आम तौर पर नासमझ मानकर उन्हें छोड़ दिया जाता है। इसके बाद जब बच्चे चार से आठ-दस साल के होते हैं तो उनके साथ डांटने-धमकाने, कभी-कभी चांटे लगाने के दौर शुरू हो जाते हैं। इसके बाद जब बच्चे किशोरावस्था में आ जाते हैं तब उन्हें नियंत्रित करने के लिए सहायक सामग्री (डंडे, चप्पल, बेलन आदि) का उपयोग बढ़ जाता है। क्योंकि बच्चे भी शारीरिक तौर पर थोड़े मजबूत होने लगते हैं। इससे आगे बढ़ते हैं, फिर देखिए, जब बच्चे युवा हो जाते हैं तो क्या होता है? यदि अभिभावक शारीरिक ताकत और सत्ता का उपयोग करने की कोशिश करते हैं तो वे प्रतिक्रिया करने लगते हैं। उसके आगे जब युवावस्था से निकलकर वे परिपक्व हो जाते हैं, परिवार के निर्णयों को प्रभावित करने और स्वयं निर्णय लेने में सक्षम हो जाते हैं। परिवार के लिए धनोपार्जन करने लगते हैं। ऐसी स्थिति में आकर शारीरिक ताकत और सामाजिक सत्ता का संतुलन सा बनता नजर आता है और माता-पिता का बच्चों पर शारीरिक ताकत और सामाजिक सत्ता का नियंत्रण निष्प्रभावी हो जाता है। इसके बाद जब माता-पिता बुजुर्ग हो जाते हैं और बच्चों पर पूरी तरह से निर्भर हो जाते हैं। तो बच्चे अपनी सत्ता और ताकत का उपयोग अपने बुजुर्ग माता-पिता को नियंत्रित करने के लिए करने लगते हैं। यह तो मौटे तौर हमारे परिवारों में दिखने वाली बानगी है। ठीक ऐसा ही आप देखेंगे हमारी शिक्षा व्यवस्था में। स्कूली शिक्षा में बच्चों को सत्ता से नियंत्रित करने के प्रयास कालेज शिक्षा की अपेक्षा कहीं ज्यादा होती हैं।

(बाक्स-1)

भारतीय संविधान की प्रस्तावना

“हम भारत के लोग, भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व संपन्न, समाजवादी, पंथनिरपेक्ष, लोकतंत्रात्मक गणराज्य बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त करने के लिए तथा उन सब में व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता और अखण्डता सुनिश्चित करने वाली बंधुता बढ़ाने के लिए दृढ़ संकल्प होकर अपनी इस संविधान सभा में आज तारीख 26 नवंबर, 1949 ई. (मिति मार्ग शीर्ष शुक्ल सप्तमी, सम्वत् दो हजार छह विक्रमी) को एतद द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।”

मेरे विचार से इस तरह की समाजीकरण की प्रक्रिया में हम सभी इस सीख के साथ अनुबंधित (कंडिशनड) हो रहे होते हैं कि ताकत और सत्ता से अपने से कमजोर लोगों को नियंत्रित किया जा सकता है और यह एक आसान तरीका है। यह अनुबंधन (कंडिशनिंग) हमें परिस्थिति और उससे जुड़े अन्य आयामों की ठीक ढंग से पड़ताल करने से रोकती है। यही समाजीकरण बरसों से हो रहा है। हमारे अवचेतन मन में यह समाजीकरण अपनी जगह बनाए बैठा है। सवाल यह पैदा होता है कि ऐसे इंसानों (इंसान कहना भी चाहिए या नहीं) का निर्माण कर हम समाज को कहां ले जा रहे हैं। क्या ऐसा समाज जहां संवाद और बातचीत के रास्ते खत्म हो जाएंगे?

समाजीकरण की यह प्रक्रिया कितनी उचित या अनुचित है यह इससे भी तय होता है कि हमारे मन में वांछनीय समाज और इंसान की कल्पना कैसी है?

यदि संविधान की प्रस्तावना (बाक्स-1) में दी गई वांछनीय समाज की कल्पना लक्ष्य के सापेक्ष हम इस समाजीकरण की प्रक्रिया को देखे तो हम कह सकते हैं कि यह प्रक्रिया सर्वथा अनुचित है। एक ओर तो हमारे संविधान में न्याय, अभिव्यक्ति और विचार की स्वतंत्रता जैसे मूल्यों में विश्वास रखने वाले समाज की उम्मीद की गई है और दूसरी ओर बच्चों को सत्ता और ताकत से नियंत्रित करने वाला माहौल है।

एक पहलू नीतिगत भी

एक और महत्वपूर्ण बात यह कि हमारे लोकतांत्रिक समाज में कोई वयस्क कुछ ऐसा कर्म कर देता है जो कि समाज की दृष्टि से अवांछनीय है तो क्या सामान्य तौर पर उसे सीधे ही दंड दे दिया जाता है? नहीं उसके साथ न्याय की एक पूरी प्रक्रिया जुड़ी होती है जहां पर वह अपने बचाव में तर्क दे सकता है, बहस कर सकता है। हो यह भी सकता है कि समाज के कुछ लोगों को उसका कर्म ठीक न लगा हो लेकिन फिर भी न्यायालय उसके तर्कों और साक्ष्यों के आधार पर उसे ससम्मान बरी कर सकता है। लेकिन हमारे विद्यालयों और पारिवारों में अक्सर क्या होता है? कई बार बच्चों को यह बताने का मौका ही नहीं मिल पाता कि वह खिड़की के बाहर क्यों देख रहा था! उसे यह कहने की आजादी नहीं है कि शिक्षक का पढ़ाया कुछ समझ नहीं आ रहा, वह नहीं कह पाता कि रोज एक ही तरह के अभ्यास कर-करके वह थक चुका है।

समेकन

शिक्षाशास्त्री प्रो. कृष्ण कुमार, नियंत्रणों से भरी सामाजीकरण की प्रक्रिया को “सैन्यीकरण” की उपमा देते हैं उनके अनुसार, “सैन्यीकरण की आवश्यकता इस धारणा के कारण महसूस की जाती है कि बच्चे स्वभावतः ही अराजक होते हैं। यह धारणा कितनी सही या गलत है, यह हम बच्चों को उनके अकेले क्षणों में देखकर जान सकते हैं।”³ कुछ खेलों के उदाहरण देते हुए वे आगे कहते हैं, “...अपनी तीव्र कल्पना के सहारे वे सामूहिक स्थितियां गढ़ लेते हैं और उनमें अपनी अस्मिता के समीकरण निरंतर ढूंढते रहते हैं। अकेले होने के बावजूद वे खेल के नियमों का पूरी तरह से पालन करते हैं। उनकी इस क्षमता से अनभिज्ञ लोग ही बच्चों के ‘समाजीकरण’ की चिंता से व्याकुल होकर गणवेश जैसे उपचार का इस्तेमाल करते हैं।”⁴ इस समाजीकरण को वे बड़े परिप्रेक्ष्य से जोड़ते हुए कहते हैं, “बच्चों के राजनैतिक इस्तेमाल के प्रति समाज में जानकारी और उसकी नियमित समीक्षा आवश्यक है। सरकारी दृष्टिकोण से हम आजाद हैं पर हमारी सभी महत्वपूर्ण व्यवस्थाएं— जैसे प्रशासन, कानून और शिक्षा औपनिवेशिक काल की ही देन हैं। ... विशेषतौर पर हमें इस बात पर गौर करना होगा कि जनतंत्र अभी तक भारत को सामंती संस्कारों से मुक्त क्यों नहीं कर पाया।”⁵

मेरे विचार से बच्चों को आरम्भ से ही यह मौके देने होंगे जिससे वे समझें कि संवाद करने, अपने विचार रखने से भी गलतियों का हल निकाला जा सकता है। “बात करने से भी बात बनती है”। ♦

लेखक परिचय: साहित्य में एम.ए. के बाद लगभग 14 वर्षों से विभिन्न स्वयंसेवी संगठनों में कार्य। संप्रति: अजीम प्रेमजी फाउण्डेशन, टोंक में कार्यरत हैं।